अध्याय --८

-०-

सन्तों की साधना

भक्ति के रूप--

माधुर्य भक्ति

दास्य भक्ति

अध्याय --८

-०-

सन्तों की साधना

किसी लक्ष्य-विशेष की सिद्धि के लिए तटस्थ भाव से की जाने वाली निरन्तर क्रिया ही 'साधना' है । यह साधना-पद्धति,योग-भक्ति-एवं प्रेम का समन्वित रूप है । साधना के माध्यम से ही साधक अपने लक्ष्य 'इष्ट देव की प्राप्ति' के उच्च शिखर पर पहुंचता है, उसका दर्शन करता है । सतत-साधना के परिणामस्वरूप साधक बाह्य जगत् के बन्धनों से मुक्त मुक्त होकर अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वाला हो जाता है ।

योग-साधना के द्वारा हम अधोमुखी जलधारा की भांति बहिर्मुखी तथा चतुर्दिक बिखरी हुई चेतना को आत्मकेन्द्रित करते हैं । अष्टांग योग के आधार पर ही मन को वशीभूत किया जाता है । मन के एकाग्र हो जाने पर ही 'परम-तत्व' की प्राप्ति सम्भव है ।

भक्ति-साधना भी बहुत कुछ अंशों में योग पर ही आधृत है । नाथ-पंथियों के साहित्य में भक्ति के लिए योग प्रमुख रूप में ग्राह्य है, जिसका प्रभाव सन्तों पर भी पड़ा किन्तु सन्तों की साधना में योग की वही भूमिका नहीं है जो नाथ पंथियों की यौगिक साधना में थी । नाथों ने अपनी साधना में जहां योग को सर्वोच्च स्थान दिया, वहीं सन्तों की साधना का चरम प्रतिपाद्य योग न होकर भक्ति है, सन्यास न होकर गृहवास है,

विरक्ति न होकर अनुरक्ति है । तात्पर्य यह कि कोई भी व्यक्ति घर में रहकर बिना विरक्त हुए भी साधना में सफलीभूत हो सकता है । हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है--'सारा भ्रमजाल और कर्म-कोलाहल इस बहिर्मुखी वृत्ति का परिणाम है ।..... इससे निरत होकर अन्तर्मुख होने की प्रकृति का नाम ही निरति है और भीतर बैठने का और मन और पवन को समरस करने का नाम समाधि है । 'सुरति' मूल रूप में अन्तरतम में बैठे हुए किसी परम प्रियतम की स्मृति है । विरले ही योगी उसको पहचान पाते हैं ।' सुरति-साधना स्थायी सिद्धि प्रीति प्रदान करती है[१] ।

भक्ति-साधना में सन्तों ने 'भाव-भक्ति' को ही महत्ता स्वीकार की है । कबीर ने कहा था कि जब तक 'भाव-भक्ति' की साधना नहीं की जायगी तब तक इस भवसागर से निस्तार असम्भव है । यथा--

'जब लग भाव भगति नहीं करिहौ ।
तब लग भव सागर क्यूं तिरिहौ ।।'

बिना भाव-भक्ति के जप-तप-आदि सब व्यर्थ है ।

' किआ जपु किआ तपु सञ्जमो,
किआ बरतु किआ इसनानु ।
जब लगु जुगति न जानीऐ,
भाउ भगति भगवानु[२] ।।'

भाव-भक्ति मन की एक स्थिति विशेष में निरत रहने तथा उसी के अनुसार निरन्तर चेष्टा करने की भावना में निहित है । वस्तुत: वह परम तत्व 'अलख' है, जिसे इन चर्म चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता है । इसीलिए

१- हिन्दी अनुशीलन(धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक)--संत साधना में सीमा और असीम, पृ०४८६

२- सन्त कबीर, राग गउड़ी ६३

सन्तों ने भाव-भक्ति के माध्यम से ही परम-तत्व को प्राप्त करने का प्रयास किया, क्योंकि जब तक चित्त में मलीनता के पटावरण-घन छाये हुए हैं, और जब तक इन स्थूल-स्तरों को फाड़कर आलोक की किरण फूट नहीं पड़ती, ज्ञान का जो दीपक अपनी मंदस्मिति से आत्मप्रकोष्ठ को उजागर किये हुए है, वैहरी दीपक की भांति बाहर-भीतर प्रकाश की अजस्र वृष्टि कर वासना दग्ध मन को शीतल नहींकर देता, तब तक वह 'पिव' से कैसे मिल सकता है ? जब तक उसके व तन-मन का कल्मष दूर नहीं हो जाता तथा उसका हृदय, शीशे की भांति निर्मल नहीं हो जाता, तब तक उस प्रियतम (परम तत्व) से मिलन सम्भव नहीं।

सन्तों की साधना का पर्यवसान प्रेम स्वरूपा-भक्ति में होता है। उनके प्रेम में साधक विलीन होकर इस प्रकार एकाकार हो जाता है, जिस प्रकार दूध में जल और नमक अपने स्वरूप का विसर्जन कर 'एकमेक' हो जाता है। इस प्रेमा-भक्ति का वर्णन करते हुए सन्त सुन्दरदास जी कहते हैं--

'यह प्रेम भक्ति जाके घट होई, ताहि कछू न सुहावै ।
पुनि भूख तृषा नहिं लागै वाकौं, निश दिन नींद न आवै ।।
मुख ऊपर पीरी स्वासा सीरी, नैनहु नीफर लायौ ।
ये प्रगट चिन्ह दीसत हैं ताके प्रेम न दुरै दुरायौ ।।'[1]

जिस व्यक्ति के हृदय में प्रेमा-भक्ति उत्पन्न हो जाती है, प्रेमाग्नि प्रज्ज्वलित हो उठती है, वहां सम्पूर्ण सांसारिक कल्मष भस्म हो जाता है --

प्रेम भक्ति यह मैं कही, जानै बिरला कोइ ।
हृदय कलुषता वर्यो रहै, जा घट ऐसी होय ।।[2]

१- स्वामी सुन्दरदास -- संत सुधासार, पृ०५७८(१५-१६)
२- ,, ,, पृ०५७८ (२१)

प्रेम के इस नशे में डूबकर साधक पागलों की भाँति विह्वल हो उठता है । उसके रोम-रोम से प्रिय-विरहजन्य दीर्घ उच्छ्वासें निकलने लगती हैं । इस विषय में सन्त सुन्दरदास का विचार उल्लेखनीय है--

प्रेम लाग्यौ परमेश्वर सौं तब, भूलि गयौ सब ही घर बारा ।
ज्यौं उनमत्त फिरै जितही तित, नेक रही न शरीर-सम्भारा।।
स्वास उस्वास उठै सब रोम, चलै दृग नीर अखण्डित धारा ।
सुन्दर कौन करै नवधा विधि, ह्वै हाकि पर्‌यौ रस पी मतवारा ।।[१]

न लाज कानि लोक की, न वेद कौ कह्यौ करै ।
न शंक भूत प्रेत ककी, न देव यक्ष तैं डरै ।।
सुनै न कान और की, दृशै न और लक्षणा ।
कहै न मुख और बात, भक्ति प्रेम लक्षणा ।।
प्रेमाधीना ह्वाक्या डोले, क्यों का क्यों ही बानी बोले ।
जैसे गोपी भूली देहा, ताकौ चाहै जालौ नेहा ।।[२]

सन्त कबीर ने दृढ़ता पूर्वक यह कहा है कि जिसके हृदय में न प्रीति है और न प्रेम तथा जिसकी वाणी राम नाम का उच्चारण भी नहीं करती, उसका इस संसार में जन्म लेना ही व्यर्थ है --

जिहि घट प्रीति न प्रेम रस, पुनि रसना नहिं राम ।
ते नर या संसार में, उपजि भये बेकाम ।।[३]

१- स्वामी सुन्दरदास, संत सुधासार, पृ०५७७। १५-१६
२- ,, पृ०५८७। १५-१६
३- कबीर ग्रन्थावली- सुमिरन कौ अंग १७

और भी--

'कबीर प्रेम न चखिया, चखि न लीया साव ।
सूने घर का पाहुणा, ज्यूं आया त्यूं जाव ।।'[१]

दादूदयाल ने कहा है कि प्रेमी का प्रियतम के प्रति इतना सच्चा प्रेम होना चाहिए कि उसके सम्मुख प्रेमी अपना सिर भी काटा सके । जब तक अपने मस्तक को सौंप न दिया जाय तब तक सच्चा प्रेम कहा --

'दादू आसिक रब्बदा, सिर भी देवै लाहि ।
अल्लह कारणि आपणौं, साढ़े अन्दरि माहि ।।
मौरे मौरे तन करै, बड़े करि कुरबाण ।
मीठा कौड़ा ना लगै, दादू तौहू साण ।।
जब लगि सीस न सौंपिये, तब लगि इसक न होइ ।
आसिक मरणै ना डरै, पिया पियाला सोइ ।।[२]
हरि मारग मस्तक दीजिये, तब निकटि परम पद लीजिये ।
इस मारग माँहे मरणां, तिल पीछै पावव न धरणां ।।[३]

तात्पर्य यह कि इन सन्तों ने अपनी साधना में प्रेम-संयुक्त - भक्ति को प्रमुख स्थान दिया, जिसके बिना इष्ट देव की प्राप्ति असम्भव है ।

भक्ति के रूप

सन्तों की साधना में यद्यपि विभिन्न रूपों का समावेश है, तथापि उसमें माधुर्य एवं दास्य भाव की भक्ति ही प्रमुखत: उपलब्ध होती है ।

१- कबीर ग्रन्थावली - सुमिरन को अंग -१८
२- दादूदयाल की बानी ,भाग१,बिरह को अंग,५६-६०-६१
३- संत सुधासार,पृ०४३६

माधुर्य भक्ति

मधुर रस के अन्तर्गत रति भाव के सुख और आह्लाद की मात्रा आनन्द के स्तर तक पहुंच जाती है जो आत्मजनित सन्तोष एवं पूर्ण शान्ति की दशा में ही सम्भव है[१]। सन्तों की साधना में यह माधुर्य भाव सूफियों से ही प्राप्त हुआ है। इस साधना के अन्तर्गत सन्तों ने अलौकिक प्रेम का प्रदर्शन किया है तथा उस परब्रह्म के साथ तादात्म्य भाव रखते हुए उसके साथ विभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया है। इन्होंने उसे अपने पति के रूप में वरण किया है तथा कान्ता-भाव से प्रेम और विरह का भाव व्यक्त किया है।

परब्रह्म के प्रति इन संतों की तीव्रतन्मयतासंभक्ति है। यह आउक्ति सूफियों के इश्क का ही रूपान्तर है। तात्पर्य यह कि इन संत-कवियों का अन्तिम लक्ष्य भाव भक्ति(इश्क) ही है। जिसका पर्यवसान प्रेमिका द्वारा प्रियतम के प्रति आत्मसमर्पण के रूप में होता है। उस समय दोनों-- प्रेमिका और प्रियतम (जीवात्मा और परमात्मा) एकाकार हो जाते हैं, अभिन्न हो जाते हैं। जब तक प्रियतम की प्राप्ति नहीं होती-- यह वियोगिनी (आत्मा) उसके विरह में संतप्त होती रहती है। उस निष्ठुर(प्रियतम) की राह देखते देखते आंखों में झांई पड़ गईं तथा उसे पुकारते पुकारते जीभ में छाले पड़ गये[२]। किन्तु अब भी वह निर्मोही नहीं आ सका।

गुरु नानक देव ने भी प्रियतम के साक्षात्कार के लिए गुरू से विनती की है--

'करउ बिनउ गुर अपने प्रीतम हरि वरु आणि मिलावै।
सुनि घनघोर सीतलु मनु मोरा, लाल रती गुण गावै ॥

१- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी -- संत काव्य, पृ०६६

२- कबीर ग्रन्थावली -- बिरह को अंग -- १२-१४

बरसु घना मेरा मनु भीना ।
अमृत बूंद सुहानी हियरै, गुरि मोहि मनुहरि रसि लीना ।।
सहज सुखी घर कामि पिआरी, जिसु गुरबचनी मनु मानिआ।
हरि वरि नारि भई सोहागणि, मनि तनि प्रेम सुखानिआ ।।
अवगण तिआगि भई वैरागनि, अस थिरु वरु सोहागु हरी ।
सोगु विजोगु तिसु कदे न बिआपै, हरि प्रभु अपणी किरपाकरी ।।
आवण जाण नहीं मनु-निहचलु, पूरे गुरु की ओट गही ।
नानक राम नामु जपि गुरमुखि, मनु सोहागणि साधु सही ।।[१]

इतना ही नहीं, बल्कि --

जउ तउ प्रेम खेलण का चाउ । सिरु धरि तली गली मेरी आउ ।
इतु मारगि पैरु धरीजै । सिरु दीजै काणि न कीजै ।।[२]

कहकर पूर्ण आत्म-समर्पण भाव व्यक्त किया है ।

दादूदयाल ने कहा है कि विरहणी प्रिय के वियोग में रात-दिन तड़पती हुई क्रन्दन कर रही है, लेकिन फिर भी वह निर्दयी नहीं सुनता, तब विह्वल होकर कह उठती है :--

'हमको अपणा आप दे, इश्क मुहब्बत दर्द ।
सेज सुहाग सुख प्रेम रस, मिलि खेलैं लापर्द ।।[३]

तथा--

प्रीति जो मेरे पीव की, पैठी पिंजर माहिं ।
रोम-रोम पिउ-पिउ करै, दादू दूसर नाहिं ।।

दादूदयाल की विरहिनी, प्रियतम के वियोग में इस प्रकार जलकर क्षीण हो चुकी है, जिसके साथ ही साथ उसके मानसिक विकार भी भस्म हो चुके हैं ।

१- गुरु नानक देव -- संत सुधासार, पृ०२४४
२- ,, ,, पृ०२५३
३- दादू दयाल की बानी, पृ०३०,३३

'विरह अगनि में जलि गये, मन के विषै विकार ।
तार्थै पंगुल ह्वै रह्या, दादू करि दीदार ।।'[१]

तथा--

राम विरहिनी ह्वै गया, विरहनि ह्वै गई राम ।
दादू बिरहा बापुरा, ऐसे करि गया काम ।।[२]

अपने प्रियतम के प्रति दादू की विरहिनी का प्रेम सच्चा है । वह एकमात्र पति के ही इशारे पर चलने वाली है,उसके प्रति इसकी प्रगाढ़ आस्था है --

पुरिष हमारा एक है, हम नारी बहु अंग ।
जै जै जैसी ताहि सौं, सैले तिसही रंग ।।'[३]

संत दादूदयाल की भांति ही गरीबदास,रज्जब, तथा मलूकदास आदि ने भी प्रियतम के वियोग में, वियोगिनी को तड़पती हुई दिखाया है । संत बुल्ला साहब ने तो यहां तक कह दिया है कि वियोगावस्था में संयोग-कालीन सुखद वस्तुएं भी विपरीत आचरण वाली बन जाती हैं--

'देखौ पिया काली घटा गो पै मारी ।
सुन्नि सेज मथावन लागी, मरौं विरह की जारी ।
प्रेम प्रीति यहि रीति चरन लगु, पल छिन नांहि बिसारी ।
चितवत पंथ अंत नहिं पायो, जन बुल्ला बलिहारी ।।'[४]

मलूकदास की वियोगिनी की दशा प्रियतम के बिना ऐसी हो गई है कि उसका अब एक क्षण रहना भी दूभर हो गया है । वह निरन्तर

१-परशुराम चतुर्वेदी -- सन्त काव्य, पृ०२६२
२- ,, ,, पृ०२६२
३- दादूदयाल की बानी , पृ०५७ ६७।५६
४- बुल्ला साहब-- संत बानी संग्रह, पृ०१७२

प्रियतम का नाम रटती फिरती है तथा यहां तक तत्पर हो जाती है कि वह निर्दयी नहीं मिलता है तो वह अपने प्राण ही छोड़ देगी । वह कह उठती है-- ओ प्रियतम! मैं तेरे दर्शन की प्यासी हूं और तेरे प्रेम का प्याला पीकर मुझे अपनी शरीर का भी सुध-बुध नहीं रही तथा--

तसवी फेरौं प्रेम की, दिया करौं निवाज ।
जंह तंह फिरौं दिदार को, उस ही के काज ।।
कहै मलूक अलेख के, अब ब हाथ बिकाना ।
नाहीं खबर वजूद की, मैं फकीर दिवाना ।।[१]

इस प्रकार कबीर,नानक, तथा दादू की भांति अन्य परवर्ती सन्तों--गरीबदास,बुल्ला साहब, तथा मलूकदास आदि की रचनाओं में भी माधुर्य भाव की भक्ति प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है ।

दास्य भक्ति

सन्तों की अपने इष्टदेव के प्रति सच्ची भक्ति है । उनके हृदय में भगवान् के प्रति प्रगाढ़ प्रेम है, आस्था है तथा दृढ़ विश्वास है । उत्कट विनम्रता के वशीभूत होकर ही वे भगवान् के चरण-कमलों में अपने को समर्पित कर देते हैं । वे भगवान को ही अपना सर्वस्व समझते हैं । इतना ही नहीं,वरन् अपने को राम का कुत्ता तक कह देते हैं,जिसके गले में नाम की रस्सी लगी है, जिधर राम चाहते हैं उधर ही वह चला जाता है[२] ।

१- मलूकदास की बानी,पृ०७

२- कबीर ग्रन्थावली-- निष्कर्मी पतिव्रता को अंग १४

वे अपने को राम का ही दास स्वीकार करते हैं, किसी अन्य का नहीं । कबीर कहते हैं :-

दास रामहिं जानिहै रे, और न जानै कोई ।
काजल देइ सबै कोई, चखि चाहन माहि बिनान ।
जिनि लोइनि मन मोहिया, ते लोइन परवान ।। १।।
बहुत भगति मौसागरा, नाना विधि नाना भाव ।
जिहि हिरदै श्रीहरि मेटिया, सो भेद कहुं कहुं ढांव ।।२।।
दरसन संमि का कीजिये, जो गुन नहीं होत समान ।
सींघव नीर कबीर मिल्यौ है, फटक न मिलै परवान ।।३।।[१]

इतना ही नहीं, आत्म समर्पण की उत्कृष्ट भावना का विकास कबीर की भक्ति में हुआ है । वे अपने-आपको पूर्ण रूप से भगवान के चरणों में अर्पित कर कहते हैं--

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागै है मेरा ।।

वे प्रभु का दासत्व पूर्णत: स्वीकार करते हैं । प्रभु मैं तुम्हारा दास हूं, मुझे बेंच दो । यह तन-मन-धन, सर्वस्व तुम्हारा है और तुम्हारे ही लिए है । उन्होंने अपने को प्रभु के चरणों में अर्पित करते हुए पूर्णत: दासत्व स्वीकार किया है --

उस सम्रथ का दास हूं, कदे न होइ अकाश ।
पतिव्रता मांगी रहै, तो उस ही पुरिस कौं लाज ।।
तूं तूं करता तूं भया, मुझ में रही न हूं ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूं तित तूं ।।

१--कबीर-ग्रन्थावली---निहकर्मी-पतिव्रता-कौ-अंग-९७ है ।
१- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी - सन्तकाव्य, पृ०१८५
२- कबीर ग्रन्थावली--पद ११३

कबीर की भांति ही सन्त दादूदयाल ने भी अहं भाव त्याग कर प्रभु के चरणों में अपने को समर्पित कर कहा है--

'तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा प्यण्ड पराण ।
सब कुछ तेरा, तूं है मेरा, यह दादू का ज्ञान ।।'[१]

जब तक ईश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास नहीं होता,तब तक मन चंचल बना रहता है, विषय-वासनाओं में भटकता रहता है,फलत: दु:ख भोगता है । किन्तु दादूदयाल का मन स्थिर हो चुका है । प्रभु के प्रति उनका दृढ़ विश्वास है । इसीलिए दादू प्रभु के चरणों में अपने को समर्पित करते हुए बड़े ही दैन्य भाव से कहते हैं:--

'तुम कूं हमसे बहुत हैं, हम कूं तुमसे नाहिं ।
दादू कूं जिनि परिहरौ, तूं रहु नैननहुं मांहिं ।।
तुम थैं तब हीं होइ सब, करत परस दरहाल ।
हम थैं कबहु न होइगा, जे बीतहिं जुग काल ।।
तुम कूं भावै और कुछ, हम कुछ कीया और ।
मिहर करौ तौ छूटिये, नहीं त नाहीं ठौर ।।
खुसी तुम्हारी त्यूं करौ, हम तौ मानी हारि ।
भावै बन्दा बकसिये, भावै गहि करि मारि ।।'[२]

सन्त सुन्दरदास का कथन है कि तन-मन से प्रभु की आराधना करनी चाहिए । जो प्रेमपूर्वक श्रद्धा भाव से भगवान् का भजन करता है,भगवान् उसी के ऊपर प्रसन्न होते हैं । किन्तु जिस प्रकार बिना भूख के अन्न स्वाद रहित

१- दादूदयाल की बानी--भाग१--सुन्दरी को अंग २३
२- स्वामी दादूदयाल-- संत सुधासार,पृ०४४१

हो जाता है,उसी प्रकार बिना प्रीतिपूर्वक की गई भक्ति भी स्वादविहीन हो जाती है । इसलिए श्रद्धा भाव से ही भगवान् का भजन करना चाहिए यथा--

'प्रीति सहित जे हरि भजैं, तब हरि होहि प्रसन्न ।
सुन्दर स्वाद न प्रीति बिन, भूख बिना ज्यौं अन्न ।।
जौ यह उसका ह्वै रहै, तौ वह उसका होय ।
सुन्दर बातौं ना मिलै, जब लग आप न खोय ।।'[१]

सन्त कबीर की भाँति सुन्दर दास ने भी हरि का दासत्व स्वीकार किया है । जिस प्रकार बन्दर,बाजीगर के इशारे पर नाचता है,उसी प्रकार सुन्दरदास भी प्रभु के इशारे पर चलते हैं,जिसकी डोर हरि के हाथ में है। वे जिधर चाहें उधर ले चलें --

'अपणां सारा कछु नहीं, डोरी हरि के हाथ ।
सुन्दर डोलै बांदरा, बाजीगर के साथ ।।'[२]

सन्त रैदास ने ' प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा । ऐसी भगति कहै रैदासा ।' कहकर अपनेको उनका दास कहा है । उन्होंने अपनी सम्पूर्ण इच्छायें स्वामी पर ही आश्रित कर दी है । स्वामी की इच्छा के विपरीत वे कुछ भी नहीं कर सकते ।

इस प्रकार कबीर,दादू,सुन्दरदास तथा रैदास की भाँति ही अन्य परवर्ती सन्त कवियों ने भी हरिको स्वामी के रूप में मानकर स्वयं उनका दासत्व स्वीकार किया है ।

माधुर्य भक्ति और दास्य भक्ति के दो तटों के बीच सन्तों की भाव-धारा किसी स्रोतस्विनी की भाँति प्रवाहित हुई है ।

-०-

१- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी -- सन्त काव्य,पृ०३८८
२- ,, ,, पृ०३८८